

प्रवचन नं. २७५, गाथा-१९९, शनिवार, आषाढ कृष्ण ६  
दिनाङ्क १५-०७-१९७९

समयसार, १९९ गाथा, निर्जरा अधिकार। अब यह कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि विशेषतया स्व और पर को इस प्रकार जानता है:-

पोग्गल-कम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।  
ण दु एस मज्झ भावो जाणग-भावो हु अहमेक्को ॥१९९॥

पुद्गलकर्मरूप राग का हि, विपाकरूप है उदय ये।

ये है नहीं मुझभाव, निश्चय एक ज्ञायकभाव हूँ॥१९९॥

सूक्ष्म बात है, भाई! निर्जरा अधिकार है न? निर्जरा अर्थात् शुद्धि। स्वरूप जो शुद्ध है, पूर्ण शुद्ध स्वरूप है, पूर्ण आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का महासागर, ऐसे आत्मा को अन्तर में दृष्टि अन्तर्मुख करके और उसका वेदन सम्यग्दर्शन में अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन आवे, उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आहाहा! इतनी शर्ते। उसे निर्जरा होती है। आहाहा!

उस दिन निर्जरा की तीन बात, तीन प्रकार कहे थे। एक कर्म का खिरना, उसे निर्जरा कहते हैं; एक अशुद्धता का टलना, उसे निर्जरा कहते हैं; और एक शुद्ध का बढ़ना, (उसे निर्जरा कहते हैं)। आहाहा! वीतरागमार्ग कोई अलौकिक, भाई! आहाहा! कल कोई कहता था, बरसात खिंच गयी है न? घास नहीं है, वे बारह-चौदह पशु मर गये, घास नहीं मिलती। कहो, ऐसे अवतार। आहाहा! नहीं तो ग्यारह इंच बरसात आ गयी है, परन्तु घास थोड़ा-थोड़ा हुआ, वह सब खा लिया गया है। बारह-चौदह पशु घास बिना मर गये। आहाहा! ऐसे अवतार तो अनन्त बार किये हैं, इस आत्मज्ञान बिना। बाकी तो सब किया। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि वह तो शुभभाव है, वह संसार है। आहाहा!

यहाँ तो सम्यग्दृष्टि, जिसे आत्मा चैतन्य रत्नाकर महाप्रभु अनन्त शक्तियों से विराजमान (अनुभव में आया है)। कल रात्रि में कहा था कि एक आत्मा में इतनी शक्तियाँ अर्थात् स्वभाव अर्थात् गुण इतने हैं... आहाहा! कि अनन्त मुख करूँ, भक्तिवन्त भक्ति कहता है कि मैं अनन्त मुख-मुँह करूँ और एक-एक मुख में अनन्त जीभ करूँ तो भी नहीं कहे जा सकते। आहाहा! प्रभु! इसे खबर नहीं है। बाहर की सब बातों में अधिक में विशेष, अपने

से बाहर में कुछ विशेष लगा, वहाँ अटक गया है। अपनी विशेष अन्दर कुछ अलग चीज़ है... आहाहा! उस ओर इसने नजर नहीं की है।

यह यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव। आहाहा! सम्यक् अर्थात् सत्य, जैसा उसका पूर्ण स्वरूप है, अनन्त मुख से और एक-एक मुख में अनन्त जीभ से गुण कहने जाए तो गुण की संख्या इतनी है कि कही नहीं जा सकती। आहाहा! रात्रि में कहा था। ऐसा यह भगवान आत्मा; शरीर, वह तो मिट्टी है, वह तो पर की-जगत की चीज़ है। कर्म अन्दर है, वह जड़ है, पर है, वह तो आत्मा में असत् है, असत्पना है। स्व में सत्पना है और पर का उसमें असत्पना है। अब उसमें भटकता क्यों है? इतनी-इतनी शक्तियाँ इसमें पड़ी है। आहाहा! एक मनुष्य अनन्त मुख करे और एक मुख में अनन्त जीभ करे तो भी उस गुण की संख्या कही नहीं जा सकती। ऐसा यह भगवान आत्मा, इसे सम्यक् अर्थात् सत्य जैसा स्वरूप है, वैसा अन्तर्दृष्टि अनुभव करके की है, उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आहाहा!

नीचे गुजराती आ गया है। (गुजराती का हिन्दी अनुवाद)

पुद्गलकर्मरूप राग का हि, विपाकरूप है उदय ये।

ये है नहीं मुझभाव, निश्चय एक ज्ञायकभाव हूँ॥१९९॥

आहाहा! यहाँ तक पहुँचना। टीका - वास्तव में राग नामक पुद्गलकर्म है... जड़, जड़। राग नाम का एक कर्म है, चारित्रमोह जड़, उसके उदय के विपाक... वह पड़ा कर्म सत्ता में है, वह तो अजीवरूप से है, अब उसका उदय आया, वह भी एक अजीव है। आहाहा! भगवान अनन्त गुण का नाथ, अनन्त गुण का महासमुद्र, चैतन्य रत्नाकर प्रभु, उसकी पर्याय में, कर्म जड़ है, उनके निमित्त से पुरुषार्थ की कमजोरी से राग होता है, पर से नहीं, उस कर्म से नहीं। कर्म तो जड़ है। जड़ को तो आत्मा स्पर्श भी नहीं करता, कभी स्पर्श भी नहीं किया। आहाहा! भगवान आत्मा शरीर, वाणी, कर्म को कभी स्पर्श भी नहीं करता, अनन्त-अनन्त काल हुआ। क्योंकि उस चीज़ की जिस चीज़ में नास्ति है, उसे स्पर्श किस प्रकार करे? आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा अनन्त गुण रत्नाकर, उसका जिसे सम्यक् जैसा है, वैसी प्रतीति-ज्ञान होकर, वर्तमान ज्ञान की पर्याय में उसे ज्ञेय बनाकर, स्वस्वरूप को ज्ञेय बनाकर ज्ञान करके प्रतीति होती है। आहाहा! उसे यहाँ भव के अन्त की पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन कहते हैं। आहाहा! प्रभु! इसके बिना भव का अन्त नहीं आता।

बाहर की अनेक प्रकार की क्रियाएँ, दया, दान, व्रतादि; संसार के जंजाल, धन्धा अकेला पाप, उसकी तो बात क्या करना ? पूरे दिन पाप और स्त्री, पुत्र को सम्हालना और उनके पास खेलना, वह पाप। धर्म तो कहाँ है ? बापू! पुण्य का भी ठिकाना नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि धर्मी तो उसे कहते हैं कि जिसे आत्मा का पूर्ण स्वभाव अनन्त जीभ से कहा नहीं जा सके, इतना जो स्वभाव... आहाहा! उसकी जिसे ज्ञान होकर प्रतीति हुई है। ऐसी की ऐसी प्रतीति नहीं। उसे ज्ञान में चीज़ आयी है कि वह चीज़ यह है। पूर्ण आनन्द और पूर्ण अनन्त शक्तियों का संग्रहालय, अनन्त गुण का संग्रह का आलय—स्थान प्रभु, ऐसा जिसका परम सत्यस्वरूप है, ऐसा ही जिसने अन्तर में ज्ञान की पर्याय में जानकर प्रतीति और शान्ति का वेदन किया है। आहाहा! उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं, उसे यहाँ धर्म की पहली सीढ़ी, धर्म का पहला सोपान (कहते हैं)। आहाहा!

ऐसा जो जीव, वह वास्तव में राग नामक पुद्गलकर्म है... कहते हैं। आहाहा! उसके उदय के विपाक से... सत्ता में पड़ा है, वह नहीं। उसका उदय आने पर विपाक हुआ, उसका पाक आया। उदय से उत्पन्न हुआ... राग। अर्थात् निमित्त के लक्ष्य से, वश से। जो कर्म का उदय है, वह निमित्त है, उसके लक्ष्य से—उसके वश से, उससे नहीं। आहाहा! उसके लक्ष्य से और उसके वश से जो कुछ राग हुआ... आहाहा! है? विपाक से उत्पन्न हुआ यह रागरूप भाव है,... देखा? यह क्या कहा? यह तो सिद्धान्त है, यह कोई कथा-वार्ता नहीं है, प्रभु!

अरे! इसने कभी किया नहीं। इसे अपनी दया आयी नहीं। अरे! मैं कहाँ भटकता हूँ? किस योनि में कहाँ हूँ? कहाँ मेरी जाति और कहाँ मेरे भटकने के स्थान? आहा! हैं? आहाहा! मैं एक आनन्द का बादशाह, अनन्त गुण का धनी, वह इन एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय तथा निगोद में भटके! आहाहा!

यह जिसे कहते हैं कि, अन्दर भान हुआ है कि मैं तो चैतन्यस्वरूप आनन्द हूँ, ज्ञायक हूँ। आता है न? 'जाणगभावो' चौथा (पद है)। मैं तो एक जाननहार-देखनहार हूँ। आहाहा! उसके साथ अनन्त गुण गुंथित हैं। जानने-देखने के साथ अनन्त-अनन्त गुण गुंथित अविनाभाव साथ में पड़े हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! ऐसा जो मैं, उसमें यह जो राग हुआ... है? वह मेरा स्वभाव नहीं है;... आहाहा! अन्दर जरा दया का, दान

का, भक्ति का, व्रत का, पूजा का भाव आया परन्तु वह राग है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय का राग तो तीव्र है, उसकी तो क्या बात करना? वह तो जहर का प्याला है। आहाहा! परन्तु यहाँ तो राग दया, दान, व्रत, भक्ति का आया तो सम्यग्दृष्टि जीव, सम्यक् अर्थात् सत्य जिसकी दृष्टि, सत्य स्वरूप की दृष्टि हुई है। पूर्णानन्द का नाथ परमस्वभावभाव पारिणामिकभाव से जो सहजस्वभाव से अनादि से है, वह त्रिकाल निरावरण है, त्रिकाल अखण्ड है, एक है, अविनश्वर है। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, उसका जहाँ अनुभव, प्रतीति हुई है, वह ऐसा कहता है कि यह राग है, वह मेरा नहीं है। जिस भाव से तीर्थकरगोत्र बँधता है, वह भाव भी मेरा नहीं है, वह मैं नहीं हूँ, उसमें मैं नहीं हूँ, वह मुझमें नहीं है। आहाहा! इतनी शर्तों का सम्यग्दर्शन है। आहाहा!

दुनिया तो कहाँ-कहाँ बैठी है। आहाहा! वह उस अखबार में आया है न? मोरारजी गंगा में बीस मिनट बहुत नहाये। स्थितप्रज्ञ है, ऐसा लिखा है। अरे! भगवान! बापू! स्थितप्रज्ञ किसे कहते हैं? जो ज्ञान वास्तविक पूर्ण स्वरूप में स्थिर हो, उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं। आहाहा! उस जीव को राग जरा देखने में आता है, स्वयं की पर्याय की कमजोरी से (हुआ राग), यहाँ ऐसा कहा। कोई वापस ऐसा ले लेवे कि कर्म के विपाक से आत्मा में राग हुआ है, उसके जड़ का उदय आया, इसलिए यहाँ राग हुआ है, ऐसा नहीं है। जड़ को तो चैतन्य कभी स्पर्श भी नहीं करता। राग है, उस जड़ को कर्म को स्पर्शा नहीं है और कर्म का उदय है, वह यहाँ राग होता है, उसे स्पर्शा नहीं है। आहाहा! परन्तु यहाँ कहते हैं कि मुझे भी स्पर्शा नहीं है, ऐसा मैं हूँ। आहाहा! है?

यह रागरूप भाव है, ... है, ऐसा। हों! अस्ति है। जैसे मैं त्रिकाल अस्ति हूँ, वैसे यह राग अस्ति है, आया है। पर्याय में राग आया है.... आहाहा! परन्तु मेरा स्वभाव नहीं है। आहाहा! वह मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्व... स्व... स्व... स्व-भाव वह नहीं है। वह विभाव है, विकार है, पर है। मेरे स्वरूप में उसकी नास्ति है। उसके स्वरूप में मेरी नास्ति है और मेरे स्वरूप में उस राग की नास्ति है। आहाहा! ऐसा मार्ग है, बापू! है? आहाहा! लोग एकान्त कहकर यहाँ की बात उड़ा देते हैं। करो, करो, बापू! मार्ग तो यह है। आहाहा! तीन लोक के नाथ तीर्थकर, अनन्त तीर्थकरों की यह ध्वनि और आवाज यह है। आहाहा!

कहते हैं कि जिसे धर्म की दृष्टि हुई है। धर्म अर्थात् आत्मा के अनन्त गुण जो धर्म,

आत्मा उनका धारक धर्मी, ऐसे अनन्त गुणरूपी धर्म, उनकी दृष्टि हुई है तो पर्याय में भी अनन्त धर्म की अनन्त शक्ति का अंश बाहर आया, प्रगट हुआ है। आहाहा! जिस प्रकार द्रव्य अनन्त गुण का एकरूप, जिस प्रकार गुण अनन्त संख्या से अनन्तरूप, ऐसी उनकी प्रतीति करने पर भी अनन्त गुण की जितनी संख्या है, उनका एक अंश प्रगट-व्यक्त (हुआ है)। अनन्त का अनन्त प्रगट अंश सम्यग्दर्शन होने पर (प्रगट) होता है। आहाहा! तीनों एक होते हैं। अर्थात्? द्रव्य में अनन्त गुण का एकरूप द्रव्य, उसके गुण अनन्त, जो अनन्त मुख से, अनन्त जीभों से नहीं कहे जा सकते इतने, ऐसे जो धर्म जो गुण हैं, उनका धारक धर्मी द्रव्य है। उसकी जहाँ अन्तर्दृष्टि हुई है, उसकी दृष्टि निमित्त की, राग की और पर्याय की दृष्टि उड़ गयी है। आहाहा! उसे यह राग है और यह मेरा स्वभाव नहीं। जिस भाव से तीर्थकरगोत्र बँधे, वह अपराध है। आहाहा! पर की दया का भाव आवे, यह अपराध है, दोष है, यह मेरा स्वभाव नहीं है। धर्मी ऐसा जानता है, यह मेरा स्वरूप नहीं है। आहाहा!

भाई! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा का मार्ग कोई अलौकिक है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं है नहीं। आहाहा! ऐसा जो प्रभु आत्मा, कहते हैं कि यह राग पंच महाव्रत का आया, भगवान की भक्ति का आया, दया का आया... आहाहा! वह मेरा स्वभाव नहीं है। धर्मी तो ऐसा जानता है, मेरे सत् में तो उसका तो असत्पना है, वह मुझमें नहीं है। आहाहा! समझ में आया? मार्ग सूक्ष्म, बापू! यह नरक के और निगोद के दुःख, जैसे गुण की संख्या का पार नहीं होता, वैसे कहते हैं कि दुःख की दशा का वर्णन भी करोड़ों भव में करोड़ों जीभों से नहीं कहा जा सकता, बापू! ऐसे जो गुण हैं, उनकी उल्टी दशा जो दुःख, वह दुःख भी... आहाहा! करोड़ भव में करोड़ों जीभों से नहीं कहे जा सकें, ऐसे दुःख तूने भोगे हैं, बापू! आहाहा! नरक के, निगोद के (दुःख) छोड़ने का मार्ग तो एक यह है। आहाहा! इसकी ओर का झुकाव तो कर। आहाहा!

मैं एक पूर्णानन्द का नाथ पूर्ण स्वरूप, ऐसी जो अन्तर्दृष्टि होने पर राग का कण भी मेरा स्वरूप और स्वभाव नहीं है। आहाहा! वह मुझमें नहीं है। उसे वह उदयकर्म, राग हुआ, वह निर्जरित हो जाता है। अल्प बन्ध होता है, वह बात गौण है। वास्तव में निर्जरित हो जाता है, ऐसा कहना है। आहाहा! वह मेरा स्वभाव नहीं है;...

मैं तो.. मैं तो क्यों (कहा)? (क्योंकि) वह है और मैं भी हूँ। परन्तु मैं तो आहाहा!

यह... मैं तो यह... चैतन्य प्रत्यक्ष। 'यह', प्रत्यक्षपना बतलाता है। आहाहा! यह लोग नहीं कहते? यह मनुष्य आया। यह अर्थात् उसका विद्यमानपना बतलाते हैं—प्रत्यक्ष। यह आत्मा, ऐसा ज्ञान में प्रत्यक्षपना ज्ञात होता है। आहाहा! ऐसी बात है। सुनना मुश्किल पड़े। उसे अन्तर में उतारने का प्रसंग तो अलौकिक है, बापू! आहाहा! दुनिया के साथ मेल खाये, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर)... आहा! मैं तो ज्ञान में प्रत्यक्ष अनुभवगोचर-वेदन प्रत्यक्ष गम्य हूँ। मैं प्रत्यक्ष रहूँ, यह मेरा स्वरूप नहीं है। आहाहा! क्योंकि इसमें सैंतालीस शक्तियों का जहाँ पीछे वर्णन चला है, उसमें एक प्रकाश नाम का गुण लिया है, तो उस प्रकाश नामक गुण के कारण गुणी ऐसा जो भगवान आत्मा जहाँ सम्यक् अनुभव में लिया, उसे पर्याय में स्वसंवेदन—स्व अपना, सं—प्रत्यक्ष वेदन हो, ऐसा ही उसका गुण है। आहाहा! समझ में आया?

मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) टंकोत्कीर्ण... ऐसा का ऐसा। अनन्त काल व्यतीत हुआ परन्तु मेरे द्रव्य में घिसावट लगी नहीं। आहाहा! निगोद और नरक में अनन्त बार रहा परन्तु मेरे द्रव्य और गुण में कुछ हीनता और घिसावट हुई नहीं। आहाहा! ऐसा मेरा प्रभु... आहाहा! है? एक ज्ञायकभाव हूँ। वे अनन्त प्रकार के विकृतादि भाव आवे, बहुत प्रकार के (आवे), संक्षेप में असंख्य हैं, विस्तार में अनन्त प्रकार हैं, परन्तु वस्तु मैं हूँ, वह तो एकरूप हूँ। आहाहा!

मैं एक ज्ञायकभाव टंकोत्कीर्ण हूँ। मैं तो एक जाननस्वभाव... जाननस्वभाव... जाननस्वभाव ऐसा तत्त्व, वह मैं यह हूँ। आहाहा! वह राग तो मैं नहीं परन्तु पर्याय जितना भी मैं नहीं हूँ। राग है, उसे जानता है, उस ज्ञान में राग आया नहीं, राग सम्बन्धी का ज्ञान राग है; इसलिए हुआ नहीं। ज्ञान की पर्याय में स्वयं से राग का और अपना, अपने से अपनी सत्ता द्वारा ज्ञान हुआ। आहाहा! वह ज्ञान एक समय की पर्याय है। इतना भी मैं नहीं। समझ में आया? आहाहा! मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ। आहाहा! देखो! यह भव के अन्त की बात, प्रभु! आहाहा! भव के-चौरासी के अवतार। कहीं नरक, कहीं निगोद, कहीं हरितकाय, कहीं लहसन और कहीं बबूल और कहीं थोर में... आहाहा! अवतार धारण कर-करके कहाँ रहा? उसका अन्त लाने का यह एक उपाय है कि जिसमें भव और भव का भाव

जिसमें नहीं है। आहाहा! यह राग, वह भव का भाव है, वह मेरे स्वरूप में नहीं है। आहाहा! अब अभी तो ऐसी लगाते हैं कि यह दया करो और व्रत करो और भक्ति करो, पूजा करो, सेवा करो और यह करते-करते कल्याण हो जाएगा। अरे! प्रभु! यह वस्तु जहर और राग स्वरूप में नहीं है, इससे स्वरूप को लाभ होगा? आहाहा! समझ में आया?

बड़ा फेरफार हो गया। दृष्टि का बड़ा फेरफार हो गया। सेवाएँ करो, देश सेवा करो, एक-दूसरे को मदद करो, भूखे को अनाज दो, प्यासे को पानी दो। आहाहा! सब अपने साधर्मी जीव हैं, इसलिए मदद करो। यहाँ कहते हैं, कुछ नहीं, बापू! परवस्तु का प्रभु! तुझमें अभाव है और तेरा उनमें अभाव है तो तू पर का क्या करेगा? आहाहा! क्योंकि वे परपदार्थ उसकी पर्याय के कार्य बिना तो है नहीं। तो उसकी पर्याय के कार्य बिना नहीं तो तू उसकी पर्याय किसी प्रकार करेगा? आहाहा! वे अनन्त द्रव्य भले हों तेरे सामने, परन्तु वे अनन्त द्रव्य तो स्वयं की पर्याय को करते हैं। आहाहा! यह पर को कुछ नहीं करता। अनन्त परद्रव्य पर को कुछ नहीं करते, तेरा स्वद्रव्य पर को नहीं करता। पर के द्रव्य-गुण को तो नहीं, परन्तु पर्याय को भी नहीं करता। आहाहा! ऐसा मैं एक ज्ञायकतत्त्व हूँ। कल आया था—तत्त्व से। भाषा नहीं, परमार्थ से उसे अन्तर में यह बात बैठनी चाहिए। तत्त्व से। आहाहा!

एक ज्ञायकभाव त्रिकाल, वह मैं हूँ। यह दया, दानादि राग आया है, वह मैं नहीं हूँ, मैं नहीं तो उससे मुझे लाभ भी नहीं। आहाहा! मेरा प्रभु मेरा स्वभाव है। उस स्वभाव की परिणति द्वारा मुझे लाभ होता है। आहाहा! (इस प्रकार सम्यग्दृष्टि विशेषतया...) अर्थात् कि पहले सामान्यरूप से कहा था कि एक आत्मा और उसके अतिरिक्त राग से लेकर सबका त्याग है, यह सामान्यरूप से कहा। अब इसके भेद डालकर यह एक राग का भेद लिया। समझ में आया? पहले सामान्यरूप से कहा था। एक ओर प्रभु आत्मा और एक ओर रागादि पूरी दुनिया। राग के विकल्प से लेकर पूरी दुनिया, सब वह तुझमें नहीं और तू उनमें नहीं। ऐसा सामान्यरूप से पहले कहा था। अब उसके भेद डालकर विशेषरूप से समझाते हैं। वह (सम्यग्दृष्टि विशेषतया स्व को और पर को जानता है।) आहाहा! यहाँ तो वहाँ तक लिया कि राग है, उसे जानता है और जाननेवाला, वह मैं हूँ। राग ज्ञात होता है मुझमें, वह राग मैं नहीं। आहाहा! और वह राग है, इसलिए यहाँ राग का ज्ञान होता है, ऐसा भी नहीं है और मेरा ज्ञान मुझे मुझसे स्व को जानते हुए पर को जानना, ऐसा स्व-परप्रकाशक मेरा-सत्ता का स्वरूप है। उससे मैं मुझे जानता हूँ। आहाहा! ऐसा है।

(स्व को और पर को जानता है।) स्व एक ज्ञायकभाव और राग अभी लेना है, वह पर। यह स्व और पर को जानता है, यह अपेक्षा है। वास्तव में तो उस राग सम्बन्धी का ज्ञान अपने से अपने में स्व-परप्रकाशक के सामर्थ्य से हुआ है, उसे जानता है। यहाँ तो राग को बताना है न? धर्मी राग को जानता है। राग मैं नहीं। मैं हूँ, वहाँ राग नहीं और राग है, वहाँ मैं नहीं। आहाहा! ऐसी बात। कहाँ लोगों को निवृत्ति है? आहाहा!

अपने हित के लिये समय निकालना। समय मिलता नहीं, ऐसा कहते हैं। मरने का समय नहीं है, ऐसा (कहते हैं)। व्यापार के धन्धे में लवलीन हो (तो ऐसा कहे) अभी तो मरने का भी (समय नहीं है)। बापू! देह छूटने का अवसर आयेगा, भाई! वह अवसर अकस्मात् आकर खड़ा रहेगा। आहाहा! यह देह, ऐसे बैठे, बात करते-करते छूट जाएगी। ऐसा नहीं कि वह कहेगी कि अब मैं छूटती हूँ। आहाहा! यह तो जड़ है, मिट्टी है, धूल है। इसे छूटने का समय है, उस समय में छूटेगी ही। उसका समय है। भगवान के ज्ञान में तो है परन्तु अपनी योग्यता उसमें रहने की, शरीर में रहने की इतनी ही योग्यता है। आहाहा! इतनी योग्यता में रहकर यह देह छूट जाती है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! धर्मी उसे कहते हैं... आहाहा! जिसे आत्मा का दर्शन हुआ है, उसे यह राग, दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा का राग आता है परन्तु उसे धर्मी अपना नहीं मानता। आहाहा! उसे अपना नहीं मानता। जैसे यह मिट्टी जड़-धूल है, पर है, उसका अस्तित्व अत्यन्त भिन्न है और राग का अस्तित्व जरा पर्याय में दिखता है, तथापि वह अस्तित्व, मेरा स्वरूप नहीं है। आहाहा! धर्मी उसे कहते हैं, सम्यग्दृष्टि—धर्म की पहली सीढ़ीवाला उसे कहते हैं... आहाहा! कि जो राग को भी अपनी चीज़ न माने। आहाहा! वहाँ फिर यह स्त्री, पुत्र मेरे, स्त्री मेरी और पुत्र मेरे, प्रभु! यह धर्मी नहीं मानता। आहाहा! अभी यह कहेंगे। समझ में आया? यह पुत्र मेरा है और यह पुत्री मेरी है और यह मेरी स्त्री। अरे! प्रभु! किसकी स्त्री? उसका आत्मा भिन्न, उसके शरीर के परमाणु भिन्न, तेरे कहाँ से आये वे? आहाहा! तुझे क्या हुआ, प्रभु! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, वह स्व-पर को जानता है। और इसी प्रकार 'राग' पद को बदलकर... द्वेष आवे। द्वेष लेना। है? द्वेष का अंश आवे तो भी धर्मी आत्मा के आनन्द के स्वाद के समक्ष वह द्वेष का स्वाद आकुलता है, इसलिए वह मेरा स्वरूप नहीं है।



आहाहा! समझ में आया? वह द्वेष का अंश है, वह मेरी चीज़ नहीं है। मैं तो प्रभु ज्ञायक चैतन्यज्योति अनादि सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर परमात्मा ने जो आत्मा देखा, वह आत्मा तो राग और विकाररहित प्रभु है, उसे भगवान ने आत्मा देखा है। आहाहा! वह भगवान स्वयं कहते हैं कि भाई! जो धर्मी होता है, उसे राग और द्वेष का अंश आता है, कमजोरी है इसलिए (आता है)। परन्तु वह मेरा नहीं है, मुझे नहीं है, मुझे नहीं है। मैं उसे स्पर्श ही नहीं करता। आहाहा! ऐसी बात है। सुनने मिलना मुश्किल पड़े, बापू! क्या करे? आहाहा! यह द्वेष।

मोह,... यह मोह अर्थात् मिथ्यात्व नहीं परन्तु परसन्मुख की जरा सावधानी जरा जाती है, वह भी मैं नहीं हूँ। सम्यग्दृष्टि लेना है न? मिथ्यात्व है, वह मैं नहीं (लो तो) मिथ्यात्व है ही नहीं वहाँ। परन्तु कोई सम्यक्त्वमोहनीय का उदय जरा हो और परसन्मुख की सावधानी, वह मैं नहीं, वह मैं नहीं। आहाहा! मैं तो एक जाननहार चैतन्य भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ जिनेश्वर ने जो प्रगट किया और ऐसा था, वह मैं हूँ। आहाहा! मुझमें और भगवान में कुछ अन्तर नहीं है। भगवान की पर्याय प्रगट हो गयी है, मेरी पर्याय अपूर्ण है, तथापि वह रागादि चीज़ जैसे भगवान को नहीं है, वैसे वह मुझे भी नहीं है। अरे रे! ऐसी बातें। कहाँ निवृत्ति है लोगों को? आहाहा! द्वेष, मोह (हुए)।

क्रोध,... ऐसा जरा क्रोध आवे। धर्मी है, युद्ध आदि में भी खड़ा हो। जरा क्रोध (आ जाए)। आहाहा! तो भी वह धर्मी उस क्रोध को अपना स्वरूप नहीं जानता। उस क्रोध को क्रोध की अस्ति में क्रोध को जानने का अपना स्वभाव है, उसे जानता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है। क्रोध।

इसी प्रकार मान,... जरा मान आवे, धर्मी है। तो भी वह जानता है, प्रभु! वह मेरी चीज़ नहीं, हों! आहाहा! वह तो पर की चीज़ आकर दिखायी देती है। आहाहा! जैसे घर में स्वयं रहा हो और किसी की स्त्री या पुत्र आकर ऐसे मुख के सामने आकर चला जाए, ऐसे दरवाजे के पास; उसी प्रकार यह क्रोध का अंश भी आकर दिखायी देता है, (वह) मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। इसीलिए लोग कहते हैं न, सोनगढ़वालों का एकान्त है। व्यवहार से होता है, ऐसा नहीं कहते। यहाँ तो प्रभु कहते हैं कि व्यवहार का राग आता है, उसे धर्मी अपना नहीं मानता। आहाहा! प्रभु! वीतरागमार्ग सूक्ष्म, प्रभु!

आहाहा! तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान महाविदेह में विराजमान हैं, उनका यहाँ विरह पड़ा, वाणी रह गयी। आहाहा! है? कुन्दकुन्दाचार्य साक्षात् वहाँ गये थे, आठ दिन वहाँ रहे थे, आकर यह वाणी बनायी है। आहाहा! उसके टीकाकार—टीका करनेवाले तो नहीं गये थे परन्तु वे यहाँ अन्दर भगवान के पास गये थे, इसलिए टीका बनायी है। आहाहा! आहाहा! ऐसा है। किस प्रकार का ऐसा उपदेश? बापू! मार्ग तो यह है, भाई!

वीतराग! वीतराग का मार्ग वीतराग भाव से होता है। वीतराग का मार्ग राग से नहीं होता, तो वह वीतरागमार्ग नहीं कहलाता। इसलिए सम्यग्दृष्टि आत्मा को जब वीतरागस्वरूप जानता है, इससे पर्याय में सम्यग्दर्शन और वीतरागी पर्याय प्रगट हुई है। इसलिए वह वीतरागी पर्याय से विरुद्ध का मान या क्रोध (आता है), उसे वह अपना नहीं मानता। आहाहा!

माया,... जरा माया भी आती है। आहाहा! परन्तु वह दिखाव देकर उस समय वह ज्ञान की पर्याय उसे जानने की अपनी शक्ति से प्रगट हुआ ज्ञान (जान लेता है), जानता है कि यह है, बस! वह छूट जाता है। आहाहा! ऐसा कठिन है।

लोभ,... इच्छा, कोई वृत्ति आवे, तथापि धर्मी उसे कहते हैं कि जो इच्छा को भी अपने में न लाकर, वह मेरा स्वरूप ही नहीं है। वह लोभ मेरा स्वरूप नहीं है। मेरी जाति नहीं, मेरी नात नहीं। आहाहा! वह तो कुजात है, वह आत्मजाति नहीं। आहाहा! इच्छा मात्र आवे, उसे कुजाति जानकर जाननेवाला रहता है। मैं तो एक ज्ञायक जाननेवाला हूँ। आहाहा! ऐसा स्वरूप कहाँ से (निकाला)? यह यहाँ का बनाया हुआ है? अनादि का मार्ग ही यह है परन्तु इसने सुना न हो, इसलिए इसे नया लगता है, इसलिए कहीं मार्ग नया नहीं है, मार्ग तो है, वही है। 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ।' आहाहा! यह यहाँ कहते हैं।

कर्म,... (अर्थात्) आठ कर्म। यह आठ कर्म मैं नहीं हूँ। मैंने कर्म बाँधे और मैंने कर्म छोड़े, वह मुझमें नहीं है। आहाहा! शास्त्र में तो सुनते हो कि चौथे गुणस्थान में ऐसे इतने कर्म बाकी हैं, ऐसा होता है। वह सब उसका ज्ञान कराया। वे कर्म मेरे हैं, ऐसा नहीं मानता। आहाहा! क्योंकि कर्म है, वह जड़ है, अजीव है और भगवान आत्मा ज्ञायक है। तो वह सत्स्वरूप है, उसमें जड़ का त्रिकाल अभाव है। उस कर्म का प्रभु में अभाव है। अरे रे! यह कैसे बैठे?

भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूपी प्रभु है। यह कर्म जड़ है, यह मुझमें नहीं है। मैं सत्

हूँ, इस अपेक्षा से वे असत् हैं और वे सत् हैं, इस अपेक्षा से मैं असत् हूँ। आहाहा! वह परमाणु की पर्याय है। कर्म है, वह कर्मवर्गणा की पर्याय है, वह पर्याय है, वह तो कर्म की पर्याय कर्मरूप से परिणमित हुई उसकी है। आहाहा! वह कर्म मेरे नहीं हैं, मैंने आयुष्य बाँधा है और आयुष्य प्रमाण मुझे देह में रहना पड़ेगा, वह भी मैं नहीं हूँ। आहाहा! आयुष्य है, वह तो जड़ है, मैंने बाँधा ही नहीं, मेरा है ही नहीं न, और उसके कारण मैं शरीर में रहा हूँ, ऐसा भी नहीं है न! आहाहा! मेरी पर्याय की योग्यता से मैं शरीर में रहा हूँ। मेरी योग्यता इतनी पूरी होगी, तो देह छूट जाएगी। आहाहा! वह कर्म मेरे नहीं।

यह ज्ञानावरणीय कर्म मुझे बाधक है। वह कर्म मेरा नहीं, फिर बाधक कौन? आहाहा! लोग कहते हैं न? ज्ञानावरणीय का उदय होवे तो ज्ञान का घात होता है और ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम होवे तो ज्ञान खिलता है। यहाँ इनकार करते हैं। वह खिले और रहे, वह तो पर्याय की स्वयं की योग्यता से है। वह कर्म मुझमें है ही नहीं। फिर मुझे उसके कारण मुझमें कुछ हो, यह बात है ही नहीं। आहाहा! एक घण्टे में कितना याद रखना? जगत में चलता नहीं, ऐसी यह बात है। बापू! ऐसा मार्ग है, भाई! आहाहा! यह तो तीन लोक के नाथ इसका विवरण करें और सन्त विवरण करें, वह तो अलौकिक रीति से होता है। आहाहा!

**नोकर्म**,...मेरे अतिरिक्त जितनी चीजें हैं, वे सब नोकर्म, वह मुझमें नहीं है। आहाहा! यह स्त्री मेरी नहीं, ऐसा समकिति मानता है। दुनिया जिसे अर्धांगिनी कहती है। आहाहा! उसका आत्मद्रव्य अलग, उसके शरीर के रजकण-द्रव्य अलग। वह मेरी अपेक्षा से तो असत् है और उनकी अपेक्षा से मैं असत् हूँ। तो वे मेरे कहाँ से हो गये। आहाहा! तब क्या करना इसमें, स्त्री-पुत्र को छोड़कर भाग जाना? भागकर कहाँ जाना? अन्दर में भागकर जाना है। आहाहा! यह नोकर्म मेरा नहीं है। आहाहा! यह बँगला, यह पैसा, स्त्री, पुत्र, पुत्रियाँ, समधी, दामाद... आहाहा! वे मेरे स्वरूप में नहीं हैं, मेरा स्वरूप नहीं है, मैं उन्हें स्पर्श भी नहीं करता। वह चीज मुझे स्पर्श नहीं करती। आहाहा! अरे रे! बात कैसे जँचे? अनन्त काल का भटका, अज्ञानभाव से, मूढ़ भाव से भटकता है। उसे यह बात अन्तर में बैठे तब भव का अन्त आवे ऐसा है। आहाहा!

यह नोकर्म मैं नहीं हूँ। नोकर्म में सब आया। पैसा, स्त्री, कुटुम्ब, पुत्र, पुत्री, मकान, इज्जत, यह सब मुझमें नहीं है, यह सब मेरा नहीं है। यह मेरे कारण वे नहीं हैं। मेरे कारण

वे नहीं हैं, उनके कारण मैं नहीं हूँ। आहाहा! ऐसी बात है। भोगीभाई! है? आहाहा! मुम्बई। आहाहा! ऐसा मार्ग है। शरीर को अलग लेंगे परन्तु वह वास्तव में नोकर्म में जाता है। शरीर, वाणी, यह परवस्तु, मकान, वस्त्र, गहने, स्त्री, पुत्र, पुत्री, सब नोकर्म है। वह मेरा स्वरूप नहीं है। वे मेरे नहीं हैं, वे मुझमें नहीं हैं। उनमें मैं नहीं हूँ। आहाहा! सम्यग्दृष्टि धर्म की पहली सीढ़ीवाला इस प्रकार से आत्मा को और पर को जानता है। आहाहा! दुनिया को बैठना कठिन पड़े कि यह तो अकेला निश्चय हो गया, व्यवहार (तो आया नहीं)। परन्तु व्यवहार अर्थात् क्या? आहाहा! परवस्तु को व्यवहार कहें तो वह वस्तु आत्मा में नहीं है। स्व को निश्चय कहते हैं, पर को व्यवहार कहते हैं। आहाहा! पर तुझमें नहीं है और वह पर में तू नहीं है। आहाहा! अरे रे! कब निर्णय करे, कब अनुभव करे और कब जन्म-मरण मिटें। आहाहा! यहाँ कौन बैठा था? (श्रोता : सुमनभाई थे।) गये? जानेवाले होंगे? नोकर्म (हुआ)।

**मन**,... मेरा नहीं है। मन मैं नहीं हूँ। आठ पंखुड़ी के आकार, यहाँ आत्मा विकार करता है, उसमें निमित्त, जड़ है, वह मैं नहीं हूँ। मन मैं नहीं हूँ। मैं मन का मन में रहकर जाननेवाला नहीं हूँ। मन मेरा तो नहीं परन्तु मन में रहकर मन का जाननेवाला नहीं। मैं तो मुझमें रहकर मन को भिन्नरूप से जानूँ, यह भी व्यवहार है। आहाहा! यहाँ तक पहुँचना। वह तो सीधा-सट्ट कर डाला—व्रत करो और अपवास करो, सेवा करो और यह करो... एक-दूसरे को मदद करो, पैसा दो, मन्दिर बनाओ, शत्रुंजय की और गिरनार की यात्रा करो। सीधा-सट्ट। ऐसा तो अनन्त बार किया है, भाई! और उस राग को अपना मानकर अनन्त मिथ्यात्व का सेवन किया है। आहाहा! मन मैं नहीं हूँ।

**वचन**,... वाणी नहीं, वाणी। आहाहा! वाणी तो जड़ की पर्याय है। जड़ की पर्याय तो मुझमें असत् है। आहाहा! मैं, मैंने सत् हूँ और वाणीपने मैं असत् हूँ। तथा मेरी अपेक्षा से वाणी असत् है; वाणी, वाणी की अपेक्षा से सत् है, मेरी अपेक्षा से असत् है। आहाहा! बहुत बोल रख दिये हैं।

**काय**,... यह शरीर मैं नहीं हूँ। आहाहा! यह हिले-चले अवस्था, वह मैं नहीं हूँ। आहाहा! यह बोला जाता है, वह मैं नहीं हूँ, वह तो जड़ है। आहाहा! कैसे बैठे? जहाँ-तहाँ अभिमान—‘मैं करूँ, मैं करूँ, यही अज्ञान है, गाड़ी का भार ज्यों श्वान खींचे।’ गाड़ी

का भार, कुत्ता नीचे छुआ हो और (उसे लगे कि) गाड़ी मुझसे चलती है, उसी प्रकार जहाँ बैठा हो वहाँ व्यवस्था होती हो, तो वह मुझसे होती है, (ऐसा मानता है)। कुत्ता है। आहाहा! यह काया मेरी नहीं। यह काया की क्रिया मेरी नहीं। काया के चलने की क्रिया में मैं नहीं। आहाहा! उसे तो मैं जाननेवाला हूँ। शरीर है, उसे जाननेवाला हूँ, उस शरीर में रहकर नहीं। अपने में रहकर उसे भिन्नरूप से जानता हूँ, यह भी व्यवहार है। परन्तु मैं जाननेवाला हूँ, ज्ञायक हूँ। विशेष कहेंगे.... (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)